IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

नामवर सिंह और हिंदी आलोचना में लोकवादी विचारधारा

कु० स्वाती

शोधार्थी, हिंदी विभाग

अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, 202001

सारांश :-हिंदी साहित्य में आलोचना केवल रचनाओं के मूल्यांकन का माध्यम ही नहीं बल्कि एक विचारधारा को परिभाषित और स्थापित करने का कार्य भी करती है। हिंदी साहित्य में इसी प्रकार की एक महत्त्वपूर्ण विचारधारा को परिभाषित करने में एक नवीन वैचारिक दृष्टिकोण प्रदान करने का कार्य नामवर सिंह करते हैं। उन्होंने न केवल हिंदी आलोचना को विभिन्न विमर्शों से जोड़ने का कार्य किया है, अपितु उसे समाज के विस्तृत संदर्भों, विशेष कर लोकचेतना और जनपक्षधरता से भी जोड़ने का प्रयास किया है। प्रस्तुत शोधपत्र में नामवर सिंह की इसी लोकवादी विचारधारा से संबंधित दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया है।

बीज शब्द:- लोक, लोकवादी विचारधारा, परंपरा, जनपक्षधरता, वर्गचेतना पुनर्पाठ आदि।

शोध आलेख :- हिंदी साहित्य की आलोचना परंपरा में नामवर सिंह एक ऐसा नाम है, जिन्होंने आलोचना को केवल साहित्यिक विमर्श तक सीमित नहीं रखा, बल्कि उसे सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विमर्श का हिस्सा बनाया। उन्होंने न केवल आलोचना के प्रति मानव को गहराई से विश्लेषित किया, बल्कि साहित्य में लोक चेतना और लोकवादी विचारधारा को भी स्थापित किया। लोक का अर्थ केवल ग्रामीण जीवन या लोकगीतों से नहीं, बल्कि जनमानस, जनसंस्कृति और जनचेतन से है। नामवर सिंह का मानना था कि साहित्य जब तक जनता से जुड़ा नहीं होगा, तब तक उसकी सामाजिक सार्थकता नहीं हो सकती है।

नामवर सिंह के लोकवादी मत को जानने से पहले हमें लोग का अर्थ समझना होगा। "लोक" शब्द संस्कृत धातु लुक से बना है, जिसका सामान्य अर्थ है लोग, जनता, समुदाय। हिंदी साहित्य परंपरा में लोक का आशय केवल ग्रामीण या पिछड़े समाज से नहीं बल्कि समाज के व्यापक बहुसंख्यक तबके से है, जो अपनी सांस्कृतिक परंपराओं, जीवनानुभवों और संघर्षों के जीवन पर जीवन को आगे बढ़ते हैं। लोग की इन्हीं विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए लोक साहित्य की परिभाषा इस प्रकार दी गई है, "लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है, जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो, पर जिसे सामान्य लोक-समूह अपना मानता है और जिसमें लोक की युग–युग की वाणी साधना समाहित रहती है, जिसका प्रत्येक शब्द, प्रत्येक स्वर, प्रत्येक लय और प्रत्येक लहजा लोक का अपना होता है और उसके लिए अत्यंत सहज और स्वाभाविक होता है।"[1]

लोक साहित्य प्रस्तुत व्याख्या से ज्ञात होता है कि लोकवाद के केंद्र में जनसमूह को रखा गया है जो सामान्य वर्ग से संबंध रखता है जिसका उद्देश्य साहित्य को अभिजात्य रूढ़ियों से मुक्त करना, साहित्य रचना की कसौटी उसके जान पक्षधर दृष्टिकोण में देखना, समाज के शोषित वंचित वर्गों, किसानों श्रमिकों और आम जनता के अनुभवों को साहित्य की मुख्य धारा में लाना तथा भाषा और शैली को लोक भाषा एवं जनसंस्कृति से जोड़ना।

[1] ·हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली,डॉ०अमरनाथ, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, दूसरा संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या-316

आचार्य शुक्ल भी साहित्य को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि, "प्रत्येक देश का साहित्य वहां की जनता की चितवृत्तियों का संचित प्रतिबिंब होता है।"[2] इन सभी तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि साहित्य वही है जो लोक की भावनाओं को अभिव्यक्त करता है और लोक वह जो समाज के उसे बड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो सामान्य भाषा, संस्कृति व आचरण व्यवहार रखता है।

लोकवाद के विषय में जानने के पश्चात यदि हम नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि के विकास की बात करें तो उनकी आलोचना दृष्टि को तीन चरणों में वर्गीकृत किया जा सकता है:-प्रारंभिक चरण , मार्क्सवादी प्रभाव और लोकवादी समन्वय । प्रारंभिक चरण में नामवर सिंह छायावादोत्तर युग की प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करते हैं। मार्क्सवादी प्रभाव के अंतर्गत सन् 1950 के बाद भी प्रगतिशील आलोचना से प्रभावित होते हैं और साहित्य को वर्ग संघर्ष, यथार्थ और जान पक्षधरता से जोड़ते हैं। तीसरे चरण अर्थात लोकवादी समन्वय में वे लोकसंस्कृति, लोकभाषा और जनता की चेतन को आलोचना का मूल आधार मानते हैं। उनकी पुस्तकें जैसे कविता के नए प्रतिमान, छायावाद, दूसरी परंपरा की खोज, इतिहास और आलोचना तथा कहना ना होगा उनकी आलोचना दृष्टि की क्रमिक यात्रा का प्रमाण है। नामवर सिंह के इसी अविस्मरणीय योगदान को रेखांकित करते हुए नंद किशोर नवल कहते हैं कि, "इस बार उनकी आलोचना से गुजरते हुए मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि वे लोकधर्मी या लोकवादी आलोचक हैं।...नामवर जी के क्रमशः1952 और 1953 के लिखे हुए दो लेख हैं-नई कविता में 'लोकभाषा' और 'इतिहास में लोकसाहित्य'। यह दोनों ही लेख इस बात की सूचना देते हैं कि लोक से उनका रिश्ता बुनियादी है और वह आचार्य शुक्ल से फर्क भी है। आचार्य शुक्ल ने सिर्फ इतना कहा था कि जब पंडितों की काव्य भाषा निर्जीव हो जाती है, तो वह लोकभाषा से पुनर्जीवन प्राप्त करती है। नामवर सिंह जी उनके साथ एक नई बात करते हैं कि लोक जीवन ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गतिरोध को तोड़ने के साथ ही साहित्यिक गतिरोध को भी समाप्त करती है। इस तरह में समाज और साहित्य के बीच एक अंतस्संबंध की कल्पना करते हैं।"[3]

ऐसा नहीं है कि हिंदी साहित्य में लोक पर चर्चा नामवर सिंह से ही प्रारंभ हुई थी वरना वह नामवर सिंह से पहले भी लोक पर समय-समय पर चर्चा होती रही है। अलग-अलग समय पर विभिन्न विद्वानों ने लोक और साहित्य के संबंध को अपने दृष्टिकोण के आधार पर परिभाषित किया। आचार्य शुक्ल लोक धर्म को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि ,"कर्म, ज्ञान और उपासना लोकधर्म के यह तीन अवयव जन समाज की स्थिति के लिए बहुत प्राचीन काल से भारत में प्रतिष्ठित हैं। मानव जीवन की पूर्णता इन तीनों के मेल के बिना नहीं हो सकती।"[4]

लोक धर्म के विषय में आचार्य शुक्ल द्वारा स्पष्ट किया गया कि ,"संसार जैसा है, वैसा मानकर उसके बीच से एक कोने को स्पर्श करता हुआ जो धर्म निकलेगा वही धर्म लोकधर्म होगा। जीवन के किसी एक अंग मात्रा को स्पर्श करने वाला धर्म लोकधर्म नहीं।...जनता की प्रवृत्तियों का औसत निकालने पर धर्म का जो मान निर्धारित होता है, वही लोकधर्म होता है।"[5] लोग धर्म की इसी मान्यता के अनुसार आचार्य शुक्ल तुलसीदास को लोकधर्मी कवि मानते हुए कहते हैं कि, "तुलसीदास यद्यपि राम के अनन्य भक्त थे पर लोकरीति के अनुसार अपने ग्रंथ में गणेश वंदना पहले करके तभी आगे चले हैं।...तुलसीदास की अनन्यता सूरदास से काम नहीं थी, पर लोकमर्यादा की रक्षा का भाव लिए हुए थी।"[6]

आचार्य शुक्ल के लोकधर्मी मतों को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह कहते हैं कि, "शुक्ला जी का लोकधर्म बहुत कुछ वर्णाश्रम धर्म ही है। 'भक्ति के नाम पर वेदशास्त्रों की निंदा करने वाले और आर्य धर्म के सामाजिक तत्वों को ना समझ कर लोगों में वर्णाश्रम धर्म के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करने वाले नीचे जातियों के निर्गुण पंथी भक्तों की जैसे भर्त्सना शुक्ल जी ने की है, उससे स्पष्ट है कि शुक्ल जी का लोक-धर्म वस्तुतः 'आर्य शास्त्रानुमोदित' सनातन धर्म ही है। "[7] लोकधर्म के विषय में शुक्ल जी के साथ-साथ हजारी प्रसाद द्विवेदी भी अपना मत प्रस्तुत करते हैं। द्विवेदी जी का लोकधर्म उस पृष्ठभूमि से संबंध रखता है जहां पर शास्त्रीयता का दिखावा न होकर समाज की हर छोटी से छोटी घटनाओं, मान्यताओं और प्रथा को पूरे उत्साह के साथ स्वीकार किया जाता है। नामवर सिंह जी द्विवेदी जी के इस मत को उद्धृत करते हुए कहते हैं कि ,"तो स्पष्ट है कि सामान्य जन में प्रचलित टोना, टोटका, तंत्र-मंत्र, मिथक आदि विश्वासों को ही वे लोकधर्म मानते हैं।"[8] द्विवेदी जी द्वारा दी गई लोक अवधारणा पूर्ण रूप से शास्त्रों का खंडन नहीं करती है वरन् वह लोक को और विस्तृत आधार प्रदान करती है। जिसके विषय में कहा भी गया है कि, "किंतु यदि एक ओर शास्त्र ने झुक कर लोक की विशेषताओं

---

[2] ·हिंदी साहित्य का इतिहास–आचार्य रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा काशी, पाँचवाँ संस्करण 1949, पृष्ठ संख्या–1

[3] . नामवर सिंह संचयिता– नंद किशोर नवल, राजकमल प्रकाशन,नई दिल्ली, पहली आवृत्ति–2023, पृष्ठ संख्या 7

[4] . रामचंद्र शुक्ल रचनावली भाग 2–संपादक नामवर सिंह व आशीष त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, पहली आवृत्ति–2022, पृष्ठ संख्या 49

[5] . वही, पृष्ठ संख्या 53

[6] .वही, पृष्ठ संख्या 53

[7] . दूसरी परंपरा की खोज– नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण– 2015,पृष्ठ संख्या–95

[8] .दूसरी परंपरा की खोज– नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण– 2015,पृष्ठ संख्या–95

को अन्तर्भुक्त किया तो दूसरी ओर शास्त्र-वंचित लोक भी अपने अनुभव संचित विचार खंडों को सुसंगत और समृद्ध बनाने के लिए शास्त्र का सहारा लेता रहा है। इस दोहरी प्रक्रिया में कभी-कभी एक ऐसे लोक धर्म का निर्माण हुआ है जो व्यापक जन विद्रोह के लिए वैचारिक आधार का काम करता रहा है। भारतीय इतिहास के संदर्भ में द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत यह लोकधर्म की अवधारणा निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण है।"[9]

आचार्य शुक्ल , द्विवेदी जी के बाद आलोचना के इस विकास क्रम में लोकवादी विचारधारा को आगे बढ़ने का कार्य नामवर सिंह ने किया है। नामवर सिंह लोक को एक गतिशील शक्ति मानते हुए कहते हैं कि , " लोकजीवन ऐसी शक्ति है जो सामाजिक गतिरोध को तोड़ने के साथ ही साहित्यिक प्रतिरोध को भी समाप्त करती है। इस तरह वे समाज और साहित्य के बीच एक अंतस्संबंध की कल्पना करते हैं।"[10]

नामवर सिंह का मानना था कि साहित्य केवल शिखर की अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि उसकी जड़ें गहरी लोक में होती हैं। वह बार-बार इस तथ्य पर बल देते हैं कि भारतीय साहित्य परंपरा का सबसे सशक्त आधार लोक संस्कृति है जिसे उन्होंने दूसरी परंपरा भी कहा है। एक ऐसी परंपरा जो अभिजात्य वर्ग से इतर अपनी मान्यताओं, परंपराओं और संस्कारों में जनचेतना को व्याप्त रखती है। जहां नामवर सिंह ने आलोचना में बार-बार हिंदी की बोलियों , लोकगीत और ग्रामीण संस्कृति की ओर ध्यान दिलाया है वहीं नामवर सिंह परंपरागत, चिरपरिचित रूपों और भाषा की स्वीकृति का नकार करते हुए कहते हैं कि , " जनता के लिए लिखे जाने वाले साहित्य को सुगम और स्पष्ट ही होना चाहिए। स्पष्टत: यह जनता को नीची नजर से देखने का फल है। जनता को मूर्ख समझने वाले 'ज्ञानी' जनवादी ही इस तरह सोचते हैं। इन लोगों की नजर में साहित्य का काम सिर्फ 'भावोत्तेजना' है । यह लोग साहित्य को अपनी गुढ़ राजनीति का लोकप्रिय साधन समझते हैं।"[11]

लोक साहित्य की महत्ता उसकी प्रवृत्तियों के कारण भी साहित्य में जान पड़ती है क्योंकि लोक साहित्य बहुत व्यवस्थित या सुसंगठित रूप में अपनी बात नहीं करता है। लोक साहित्य की सुंदरता उसके अव्यवस्थित रूप में ही है। इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह कहते हैं कि ," शास्त्रीय वंचित विविध दलित जातियों और जनसमूह के मानसिक अभिव्यक्ति होने के कारण लोकधर्म का अव्यवस्थित और अनिश्चित होना अनिवार्य है, और इसलिए उच्च वर्गों के शास्त्र की तुलना में वह हीनतर भी प्रतीत हो सकता है किंतु सिर्फ इसीलिए वह महत्वहीन नहीं हो जाता।"[12] लोक धर्म की विशेषता को स्पष्ट करते हुए नामवर सिंह कहते हैं कि, "लोकधर्म का प्राण उसका विद्रोह है। इसलिए दमनकारी व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह के रूप में खड़े होने वाले प्रत्येक जनआंदोलन की शक्ति और सीमा को समझने के लिए उसके द्वारा मान्य ऐसे लोकधर्म का अध्ययन आवश्यक है।"[13]

निष्कर्ष :- नामवर सिंह ने हिंदी आलोचना को जी लोकवादी दृष्टि से देखा, उसने साहित्य को जनता से गहरे स्तर पर जोड़ा। उन्होंने बार-बार इसी तथ्य पर जोर देकर कहा कि साहित्य की जड़ें लोक में निहित है और वह शक्ति भी लोक से ही प्राप्त करता है। नामवर सिंह ने अपनी आलोचना को केवल शास्त्रीय चिंतन तक ही सीमित नहीं रखा है वरन वह साहित्य के लिए लोकगीत, लोक भाषाओं व लोकसंस्कृति को साहित्य के मूल्यांकन के लिए आवश्यक मानते हैं। उनके अनुसार आधुनिकता की सार्थकता भी तभी है जब वह लो जीवन से जुड़ी रहे। लोकवादी आलोचना के माध्यम से उन्होंने साहित्य को अभिजात्य प्रवृत्तियों से मुक्त करने और उसे समाज के श्रमशील वर्गों, किसानों, मजदूरों तथा आम जनता के अनुभवों से जोड़ने का कार्य किया। उनकी कृतियों दूसरी परंपरा की खोज, इतिहास और आलोचना तथा कविता के नए प्रतिमान में यह दृष्टि स्पष्ट दिखाई देती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नामवर सिंह ने प्रगतिशील आलोचना को लोकवादी आयाम देकर हिंदी आलोचना की परंपरा को लोकतांत्रिक और जनोन्मुख दिशा प्रदान की। उनके आलोचना कर्म ने यह स्थापित किया कि साहित्य का अंतिम उद्देश्य लोकमंगल है और उसकी असली प्रमाणिकता तभी है जब वह जनता की आवाज और आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करें। यही कारण है कि हिंदी आलोचना में नामवर सिंह की लोकवादी दृष्टि आज भी प्रासंगिक और मार्गदर्शन बनी हुई है।

---

[9] .वही,पृष्ठ संख्या-94

[10] .नामवर सिंह संचयिता- नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन,नईदिल्ली, पहली आवृत्ति-2023, पृष्ठ संख्या 7

[11] . वाद विवाद और संवाद- नामवर सिंह, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, छठा संस्करण- 2019,पृष्ठ संख्या-85

[12] .नामवर सिंह संचयिता- नंदकिशोर नवल, राजकमल प्रकाशन,नईदिल्ली, पहली आवृत्ति-2023, पृष्ठ संख्या-303

[13] .वही,पृष्ठ संख्या-303